

मामान्य सूची ।

विषय	पृष्ठ
सूचना	1
कलकत्ता	१-३
प्रस्तावना	४-१०
सीमाओं के सम्बन्ध की विषय सूची	१४-१५
प्रमाण रूप से निर्दिष्ट पुस्तकें	१६
अनुवाद सहित सीमारा के सम्बन्ध	१-७५
परिशिष्ट (क)	७६-८०
परिशिष्ट (ख)	८३-१०३
परिशिष्ट (ग)	१०४-१०६
शुद्धिपत्र	१०७

5

नामान्य सूची ।

विषय	पृष्ठ
सूचना	१
काल	१-३
प्रस्तावना	४-१०
नीतिगत कर्म प्रत्येकी विषय सूची	१४-१५
प्रमाण रूप में निर्दिष्ट पुस्तकें	१६
अनुवाद मालिनी नीतिगत कर्म प्रत्येकी	१-७५
परिशिष्ट (क)	७६-८०
परिशिष्ट (ख)	८३-१०३
परिशिष्ट (ग)	१०४-१०६
शुद्धिपत्र	१०७

इसके बाद अनुवाद-साहित मूल ग्रन्थ है। इसमें मूल गाथा के नीचे छाया है जो संस्कृत जानने वालों के लिये विशेष उपयोगी है। छाया के नीचे गाथा का सामान्य अर्थ लिख कर उसका विस्तार से भावार्थ लिखा गया है। पढ़ने वालों की सुगमता के लिये भावार्थ में यन्त्र भी यथास्थान दामिल किये हैं। बीच बीच में जो जो विषय विचारास्पद, विवादास्पद, या संवेदास्पद आया है उस पर टिप्पणी में अलग ही विचार किया है जिससे विरोपदर्शियों को देखने व विचारने का अवसर मिले और साधारण अभ्यासियों को मूल ग्रन्थ पढ़ने में कठिनता न हो। जहां तक हो सका, टिप्पणी आदि में विचार करते समय प्रामाणिक ग्रन्थों का हवाला दिया है और जगह २ दिगम्बर ग्रन्थों की संमति-विमति भी दिवार्द्ध है।

अनुवादके बाद तीन परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट (क) के पहले भाग में गोम्मटसार के खास स्थलों का गाथाभार निर्देश किया है जिससे अभ्यासियों को यह मालूम हो कि तीसरे कर्मग्रन्थ के माय सम्बन्ध रखने वाले कितने स्थल गोम्मटसार में हैं और इस के लिये समझा कितना २ हिस्सा देखना चाहिये। दूसरे भागमें श्वेताम्बर-दिगम्बर शास्त्र के समान-असमान कुछ मिश्रान्तों का उल्लेख हम आशय से किया है कि दोनों संप्रदाय का तारिखिक विषय में कितना और किस किस भाग में साम्य और वैषम्य

है। सत्यमेव जित्यात्म का संदेश में बड़े-
 कम टिप्पणी के दृष्ट का मन्त्र गुचित
 'जित्यात्म' पर विशेष विचार किया है
 हमें यह है कि यह सम्बन्ध हमने वाली ए
 का बड़े-है। परिशिष्ट (पर) में मूल गा
 संस्कृत काया तथा ईर्ष्या-अर्ध-माहित के
 से अर्थ-प्रतीति के गुर्मीने के शिखे के

अनुवाद में कोई भी विषय सात
 इस बात की ओर ध्यान दिया
 पूर्वापर विशेष विचार के लिये अन्य
 अपनी सम्पूर्ण प्रदर्शित की है। क्या
 एका के अर्थ-प्रतीति के गुर्मीने के लिये
 का मन्त्र-गुर्मीने विषय में अर्थ-प्रतीति करने
 की है। तब पर भी अज्ञान भाव में
 हो जैसे बड़ा पाठ-प्रतीति कर लेवे
 की कृपा करे ताकि इसी आह्वान में गु

किये हैं, जो ६२ हैं। जीवों की बाह्य-आन्तरिक-जीवन-सम्बन्धिनी अनंत भिन्नताओं के सुद्विगम्य एक वर्गीकरण को शास्त्र में 'मार्गणा' कहते हैं।

(ख) गुणस्थान—मोह का प्रगाढ़तम आवरण, जीव की निकृष्टतम अवस्था है। संपूर्ण चारित्र-शक्तिका विकास—निर्मोहता और स्थिरता की पराकाष्ठा—जीव की उच्चतम अवस्था है। निकृष्टतम अवस्था से निकल कर उच्चतम अवस्था तक पहुँचने के लिये जीव मोह के परदे को क्रमशः हटाता है और अपने स्वभाविक गुणों का विकास करता है। इस विकास-मार्ग में जीव को अनेक अवस्थाएँ तय करनी पड़ती हैं। जैसे थर्मामीटर की नली के अङ्क, उष्णता के परिमाण को बतलाने हैं वैसे ही एक अनेक अवस्थाएँ जीव के आध्यात्मिक विकास की मात्रा को जनाती हैं। दूसरे शब्दों में इन अवस्थाओं को आध्यात्मिक विकास की परिमाणक स्थायें कहना चाहिये। विकास-मार्ग की इन्हीं क्रमिक अवस्थाओं को 'गुणस्थान' कहते हैं। इन क्रमिक संख्यानीत अवस्थाओं को ज्ञानियों ने संक्षेप में १४ विभागों में विभाजित किया है। यही १४ विभाग वैदिक शास्त्र में '१४ गुणस्थान' कहे जाते हैं।

वैदिक साहित्य में इस प्रकार की आध्यात्मिक अवस्थाओं का वर्णन है। 'पातञ्जल योग-दर्शन' में ऐसी आध्या-

न किसी प्रकार में पाई जाती हैं—सभी संभारी जीव एक ही समय में प्रत्येक मार्गणा में वर्तमान पाये जाते हैं । इन में बलदा गुणस्थान एक समय में एक जीव में एक ही पाया जाता है—एक समय में सब जीव किसी एक गुणस्थान के अधिकारी नहीं बन सकते, किन्तु उन का कुछ भाग ही एक समय में एक गुणस्थान का अधिकारी होता है । इसी बात को योंभी कह सकते हैं कि एक जीव एक समय में किसी एक गुणस्थान में ही वर्तमान होता है परन्तु एक ही जीव एक समय में चौदहों मार्गणाओं में वर्तमान होता है ।

पूर्व पूर्व गुणस्थान को छोड़ कर उत्तरोत्तर गुणस्थान को प्राप्ति करना आध्यात्मिक विकास को बढ़ाना है, परन्तु पूर्व पूर्व मार्गणा को छोड़ कर उत्तरोत्तर मार्गणा न तो प्राप्ति हो जा सकती है और न इस से आध्यात्मिक विकास ही सिद्ध होता है । विकास की तरहवाँ भूमिका तक पहुँचे हुये—कैवल्य-प्राप्त—जीव में भी कषाय के मिश्रण सब मार्गणाएँ पायी जाती हैं पर गुणस्थान केवल तरहवाँ पाया जाता है । अन्तिम-भूमिका-प्राप्त जीव में भी तीन चार को छोड़ सब मार्गणाएँ होती हैं जो कि विकास की बाधक नहीं हैं, किन्तु गुणस्थान उस में केवल चौदहवाँ होता है ।

पिछले कर्मग्रन्थों के साथ तीसरे कर्मग्रन्थ की संगति-दुःख हेतु है क्योंकि उसे कोई भी नहीं चाहता । दुःख का संबंध

झारा किया जा सकता है। अतः एक प्रत्येक विचार-शील प्राणी अपने या अन्य के आध्यात्मिक विकास के परिमाण का ज्ञान करके यह जान सकता है कि मुझ में या अन्य में किम किस प्रकार के तथा कितने कर्म के बन्ध, पदय, उद्दोरणा और सत्ता की योग्यता है।

उक्त प्रकार का ज्ञान होने के बाद फिर यह प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले भिन्न भिन्न गति के जीव या समान गुणस्थान वाले किन्तु न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीव कर्म-बन्ध की समान योग्यता वाले होते हैं या असमान योग्यता वाले? इस प्रकार यह भी प्रश्न होता है कि क्या समान गुणस्थान वाले स्थावर-जंगम जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु भिन्न-भिन्न-योग-युक्त जीव की या समान गुणस्थानवाले भिन्न-भिन्न-लिंग (वेद)-धारी जीव की या समान गुणस्थान वाले किन्तु विभिन्न कषाय वाले जीव की बन्ध-योग्यता बराबर हो होनी है या न्यूनाधिक? इस तरह ज्ञान, दर्शन, संयम आदि गुणों की दृष्टि में भिन्न भिन्न प्रकार के वास्तु गुणस्थान की दृष्टि में समान प्रकार के जीवों की बन्ध-योग्यता के सम्बन्ध में कई प्रश्न पड़ते हैं। इन प्रश्नों का जवाब, तीसरे कर्मग्रन्थ में दिया गया है। इस में जीवों की गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद कषाय आदि पौनःप्रायः अष्टाष्टादशों को लेकर गुणस्थान-क्रम में यथा समव बन्ध योग्यता दिखाई दे, जो आध्यात्मिक दृष्टि ज्ञान का बहुत महत्त्व ज्ञान योग्य है।

दूसरे कर्मण्य के ज्ञान की अपेक्षा—दूसरे कर्मण्य में
 जो सेवक जीसों की कर्म-बन्ध-शाम्भन्धिनी योग्यता
 है और तीसरे में मार्गदाओं का लेकर। मार्गदाओं में
 सामान्य-अथ वे बन्ध-योग्यता दिखाकर फिर प्रत्येक मार्गदा
 यथा-आवश्यक गुणादानों को लेकर बढ़ दिशाएं गई हैं। इसीलिए
 दोनों कर्मण्यों के विषय भिन्न होने पर भी उनका
 ये इतना पवित्र शम्भन्ध है कि जो दूसरे कर्मण्य को
 तरफ न बढ़ ले वह तीसरे का अधिकारी ही नहीं हो
 । यह तीसरे के पहले दूसरे का ज्ञान कर लेना चाहिये।

प्राचीन और नवीन तीनों कर्मग्रन्थ—ये दोनों, विषय समान हैं। नवीन की अपेक्षा प्राचीन में विषय-वर्णन अधिक है; यही भेद है। इसी से नवीन में विषय २५ गाथाओं में वर्णित है कतना ही विषय प्राचीन में ५५ गाथाओं में। ग्रन्थकार ने अभ्यासियों की सरलता के लिए नवीन कर्मग्रन्थ की रचना में यह ध्यान रक्खा है कि निष्प्रयोजन शब्द-विस्तार न हो और विषय पूरा आवे। इसीलिए गति आदि भागों में गाथास्थानों की संख्या का निर्देश जैसा प्राचीन कर्मग्रन्थ में बन्ध-स्वामिन्ध के बंधन में अलग-अलग है नवीन कर्मग्रन्थ में वैसा नहीं किया है, किन्तु यथा समस्त गुणस्थानों का लेख बन्ध-स्वामिन्ध दिखाया है जिससे उन की संख्या का अभ्यासी आस ही जान सके।

नवीन कर्मग्रन्थ है संक्षिप्त, पर वह इतना पूरा है कि इस के अभ्यासी थोड़े ही में विषय को जान कर प्राचीन ग्रन्थ-स्वामित्व को बिना टाँका-टिप्पणी की मदद के जान सकते हैं। इसी से पठन-पाठन में नवीन तीसरे का प्रचार है।

गोम्पटसार के साथ तुलना—तीसरे कर्मग्रन्थ का विषय कर्मकाण्ड में है, पर इस की वर्णन-शक्ति कुछ भिन्न है। इस के मिश्राय तीसरे कर्मग्रन्थ में जो जो विषय नहीं हैं और दूसरे के सम्यन्ध की दृष्टि में जिस जिस विषय का वर्णन करना पड़ने वालों के लिए लाभदायक है वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गशास्त्रों में केवल ग्रन्थ-स्वामित्व वर्णित है परन्तु कर्मकाण्ड में ग्रन्थ-स्वामित्व के अतिरिक्त मार्गशास्त्रों को लेकर उदय-स्वामित्व, उदारण-स्वामित्व, और सत्ता-स्वामित्व भी वर्णित है। [इस के विशेष मुलाने के लिये परिशिष्ट (क) नं. १ देखो]। इसलिए तीसरे कर्मग्रन्थ के अभ्यासियों को उसे अवश्य देखना चाहिये। तीसरे कर्मग्रन्थ में उदय-स्वामित्व आदि का विचार इसलिए नहीं किया जान पड़ता है कि दूसरे और तीसरे कर्मग्रन्थ के पढ़ने के बाद अव्याप्तो उसे स्पष्ट मोक्ष लेवे। परन्तु आज हम तैयार विचार को भव जानने के, स्पष्ट विचार का विषय को न नवीन व इतना कम हम जानें हैं। इनलिङ्ग कर्मकाण्ड की एक विशेषता से सब अभ्यासियों को लाभ उठाना चाहिये।

तीसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

विषय	पृष्ठ	गाय
मंगल और विषय-कथन	१	१
संस्कृत के लिये वपयोगी प्रकृतियों का संपद...	३	२-३
नरकगति का बन्ध-स्वामित्व ...	५	४-५
सामान्य नरक का तथा रत्नप्रभा आदि		
नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ...	६	
पङ्कप्रभा आदि नरक-त्रय का बन्धस्वामित्व-		
यन्त्र	१०	
तिर्यङ्चगति का बन्धस्वामित्व ...	११-१४	७-८
सातवें नरक का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ...	१३	
अष्टांश तिर्यङ्च का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ...	१७	
मनुष्यगति का बन्धस्वामित्व ...	१८	
अष्टांश मनुष्य का बन्धस्वामित्व-यन्त्र ...	२०-२१	
सन्धि अपर्याप्त तिर्यङ्च तथा मनुष्य का		
बन्धस्वामित्व-यन्त्र ...	२२	
देवगति का बन्ध-स्वामित्व	२३-२६	१०-

अनुवाद में प्रमाणरूपसे निर्दिष्ट पुस्तकें

भगवद्गीता सूत्र ।

दत्तगोत्रायन सूत्र । (आगमोदय समिति, मुरल) ।

औपनिषद सूत्र । (आगमोदय समिति, मुरल) ।

आचार्यनिर्बुद्धि ।

तत्त्वार्थ भाष्य ।

पञ्चसूत्र ।

चन्द्राय मंगलश्री ।

चौथा नवीन कर्मग्रन्थ ।

प्राचीन बन्ध-स्वामित्व (प्राचीन श्रीमत् कर्मग्रन्थ) ।

लोकप्रकाश ।

जीवविजयजी-टिप्पणी ।

जयसोमसूत्र-टिप्पणी ।

मर्यादामिद्धि-टीका (पूज्यपादस्वामि-कृत) ।

गोष्मटसार—जीवकाण्ड तथा कर्मकाण्ड ।

पातञ्जल योगसूत्र ।

योगशास्त्र ।

श्री हेरेन्द्रगिरि विगिञ्जित

बन्धस्यामित्य नामक तीसरा कर्मग्रन्थ ।

(हि.री.—अष्टाध्याय—अष्टि ।)



“ संकल्य चौर विषय-व्ययत । ”

बन्धविषयविमुक्त, बन्धिय मित्रियदमाद्यनिवृत्त्यर्थं ।

सत्प्राप्त्यर्थं बुद्ध्या, समागतो बन्धमापिषं ॥ १ ॥

बन्धविषयविमुक्तं बन्धित्वा श्रीगुरुनामनिवृत्त्यर्थं ।

सत्प्राप्त्यर्थं बुद्ध्या, समागतो बन्धमापिषम् ॥ १ ॥

अर्थ—अपान् बन्धननिवृत्ति के लिये बन्ध के समान सौम्य है, तथा जो बन्ध-व्यय के विषय में निवृत्ति दें—बन्ध को नहीं छोड़ने—इन्हीं नमस्कार करके गति आदि प्रत्येक मांगे में बन्धन जीवों के बन्धन-विषय में मैं संक्षेप में बतलाऊँगा ॥ १ ॥

आराम ।

नमः श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः श्रीगुरुभ्यो नमः

(२८), मध्यमसंस्थान-चतुष्टय—व्यप्रोधपरिमहदन, सादि, मामन, कुञ्ज—(३२), मध्यममहदन-चतुष्टय—शुषमनागव, नाराच, अधेनाराच, कालिका—(३६), अशुभाविहायोगति(३७), नीचगोत्र (३८), स्त्री वेद (३९), दुर्भग-त्रिक—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेयनामकर्म—(४०), स्थानर्द्धि-त्रिक—निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानर्द्धि—(४५), उग्रोत्तनामकर्म (४६), निर्यञ्च-द्विक—निर्यञ्चगति, निर्यञ्चक्रानुपूर्वी—(४८), निर्यञ्चक्राणु (४९), मनुष्य आयु, (५०), मनुष्य-द्विक—मनुष्यगति, मनुष्यक्रानुपूर्वी—(५२), आंशारिक-द्विक—आंशारिक शरीर, आंशारिक अगोपाग—(५४), और वज्रशुषमनाराचमहदन(५५) इम प्रकार ५५ प्रकृतियों हुई ॥ ३ ॥

भारार्थ-शक ५५ कर्म प्रकृतियों का विशेष व्यवसाय इम कर्म-मन्त्र में संकेत के लिये है । यह संकेत इस प्रकार है:-

हिमी अभिमन प्रकृति के आगे तिम मर्या का कर्म दिया हो, उम प्रकृति में लेकर इनकी प्रकृतियों का प्रहण शक ३ । कर्म प्रकृतियों में से दिया जाता है । उदाहरणार्थ 'माराकान्तिरेगति' यह मन्त्र देखाइए म लेकर आता-नपरा १० । नया का बनह दे ॥ ३ ॥ ॥ ॥

मनुष्य, मिथ्यात्व, दुष्ट और मेघात इन ४ प्रवृत्तियों
 नामादान गुणस्थानवासे नारक जीव बाँध नहीं रहने.
 तीस वनका वन्य मिथ्यात्व के उक्त काल में होता है, पर
 त्याग वा वरद नामादान के समय नहीं होता ॥ ४ ॥

अथ अष्ट-श्रीमं धीते, विमर्षोर संमंभि निग्नराडनुया ।
 य स्वग्राशु भंगो, पंकाशु निग्नयरदीयो ॥ ५ ॥

विनाशनप्रवृत्ति विधे द्वातापतिः सम्पत्तो विननराडनुया ।
 इति रत्नादिषु भंगः पङ्कादिषु तर्भरदीनः ॥ ५ ॥

अर्थ—तीसों गुणस्थान में वर्तमान नारक जीव ७०
 प्रवृत्तियों को बाँधते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त ६६ में से अनन्तानु-
 बन्ध-बन्धन से लेकर मनुष्य-आयु-पर्यन्त २६ प्रवृत्तियों
 को वे नहीं बाँधते । चौथे गुणस्थान में वर्तमान नारक कुल
 ७० तथा तिन नामकर्म और मनुष्य आयु, इन ७२ प्रवृत्तियों
 को बाँधते हैं । इन प्रकार नारकगति का यही सामान्य
 बन्धनविधि सत्यप्रभा आदि तीन नरकों के नारकों को पागों
 नामस्थानात्म लागू पड़ता है । पञ्चप्रभा आदि तीन नरकों में भी
 न पञ्च नामकर्म के सिवाय बड़ी सामान्य बन्धनविधि सम-
 नान च ॥ ५ ॥

[illegible][illegible]

पृथक्प्रभा आदि नरक-त्रय का पन्थस्यामित-यन्त्र ।

गुणस्थाना के नाम	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय	नरक-त्रय
गुणस्थाना के नाम	१००	२०	०	२	२५	२	५२	२	५२	२	५२	२
गुणस्थाना के नाम	१००	२०	०	२	२५	२	५२	२	५२	२	५२	२
गुणस्थाना के नाम	१५	२५	२५	२	२५	२	५०	२	५०	२	५०	२
गुणस्थाना के नाम	७०	२०	०	२	२५	०	२२	०	२२	०	२२	०
गुणस्थाना के नाम	७१	५५	०	२	२५	१	२२	१	२२	१	२२	१

महामाया व है - तो उस गुणस्थान में बाँधी जाती है पर सागेके गुणस्थान में लड़ी जाती जाती है -
 मरकजति मेर मिथ्यापुत्र गुणस्थान की बन्ध-विप्लवम प्रकृतियों पार है । इसका मलमल पद है कि यन्त्र

जा सकता है । अतएव उसमें सबसे अधिक पुरुष-शक्ति
उक्त तान हो है ।

यद्यपि मातर्वे नरक के नारक-जीव मनुष्य-आयु हो
बोधते तथापि वे मनुष्य-गति तथा मनुष्य-आनुपूर्वी-नामक
बोध सकते हैं । यह नियम नहीं है कि “आयुका बन्ध,
और आनुपूर्वी नामकर्म के बन्ध के साथ ही होना चाहिये।



[illegible]

(निर्यञ्जगति का दग्धत्वमित्थं) मन्थर
निर्यञ्ज्य अपने जन्म-म्यमायमे ही त्रितनामर्जन
मरने, वे आहारक-द्विक को भी नहीं बाँधते, २
है कि उसका बन्ध, चारित्र्य धारण करनेवालों को
है, पर तिर्यञ्च, चारित्र्य के अधिकारी नहीं है ।
सामान्य-बन्ध में उक्त ३ प्रकृतियों को गिनती नहीं

विष्णु नरयमोल सासणि, मुराड अणुपगनीम
समुराड सचरि संघे, बीपकसाए विणा देसे ॥

विना नरकपोडन सासादने मुरापुरनैकाविशने विष्णु ।
समुरायुः सप्तनिः सम्यक्त्वे वि

अर्थ—दुमरे गुणस्थान में वर्तमान १०१ वि
प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में
त्रिक से लेकर सैवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे
वामरे गुणस्थान में वे ६६ प्रकृतियों को बाँधते
उक्त १०१ में से अनन्तानुबन्धि-धनुष्क से लेकर
नाराचमंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देवआयु इन ३२
बन्ध उनको नहीं होता । चौधे गुणस्थान में वे उक्त
देवआयु—कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं । तथा
स्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि उक्त ७०
अग्रग्यास्थानावरण कपायों का बन्ध उनको नहीं होता

भाचार्य—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त
 देवघायु को बाँधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्त-
 मा ही बाँधते; क्योंकि उस गुणस्थान के समय देवघायु
 योग्य अभ्यवसाय ही नहीं होते । तथा उस गुणस्थान
 मनुष्यगति-योग्य ६ (मनुष्य-द्विक, चोत्तारिक-द्विक, धर्म-
 रत्नाकरासंज्ञन और मनुष्य घायु) प्रकृतियों को भी बाँ-
 धते । इसका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की ती-
 सरे गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यक्ष दो-
 न ही देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं, मनुष्यगति-योग्य
 प्रकृतियों को नहीं । इस प्रकार अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर
 २५ प्रकृतियों—जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थानमें किसी को नहीं
 होता—उन्हें भी बाँधते । इससे देवघायु १, मनुष्यगति-
 योग्य वक्त ६ तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क आदि २५—सबमिला-
 कर ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटाकर शेष ६९
 प्रकृतियों का बन्ध पर्याप्त तिर्यक्षों को मिस्रगुणस्थान में होता
 । चौथे गुणस्थान में इनको देवघायु के बन्ध का सम्भव होना
 कारण ७ । प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है ।

७ ममा मिस्रद्विक आदि चतुर्धन न करइ
 ८ बन्धन न मिस्रगुण आदि समय इ यादि

(निर्यञ्जगति का बन्धन्वामित्व) सम्यक्ज्ञान
निर्यञ्ज अपने जन्म-स्वभावमे ही जिननाम करने
सकते, वे आहारक-द्विक को भी नहीं बाँधते; २
है कि उसका बन्ध, चारित्र्य धारण करनेवालों को
है, पर निर्यञ्ज, चारित्र्य के अधिकारी नहीं हैं ।
सामान्य-बन्ध में उक्त ३ प्रकृतियों की गिनती नहीं

विष्णु नरयसोल सासणि, सुराउ अणणगीस ।
ससुराउ सयरि संघे, वीपकसाए विखा देसे ॥ ८

विना नरकषोडश सासादने ॥ ९ ॥
ससुरायुः सप्ततिः सम्यक्त्वे द्वितीयकथायान्विना देसे ।

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त १५
प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में
त्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे
तीसरे गुणस्थान में वे ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं
उक्त १०१ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर
नाराचमंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देवआयु इन ३२
बन्ध उनको नहीं होता । चौथे गुणस्थान में वे उक्त १
देवआयु कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं । तथा पाँचवें
स्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि उक्त ७० में
अप्रत्याग यानायरण कथाओं का बन्ध उनको नहीं होता ॥

भाषार्थ—श्रीधर गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यक्ष
 २ को बाँधते हैं परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान उन
 ६ बाँधते, क्योंकि उस गुणस्थान के समय 'आयु बाँधने
 ' विषय अध्यवसाय ही नहीं होते । तथा उस गुणस्थान में
 ६ (मनुष्य-द्वि, आर्शात्म-द्वि, वज्रशय-
 १, मनुष्य और मनुष्य आयु) प्रकृतियों को भी वे नहीं
 बाँधते । इसका कारण यह है कि श्रीधर गुणस्थान की तरह
 ३ गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यक्ष दोनों
 १ देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं; मनुष्यगति-योग्य
 २ को नहीं । इस प्रकार अनन्तानुषन्धि-चतुष्टय से लेकर
 ५ प्रकृतियों—जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थानमें किसी को नहीं
 ६—उन्हें भी वे नहीं बाँधते । इसमें देवआयु १, मनुष्यगति
 २ तथा अनन्तानुषन्धि-चतुष्टय आदि २५—सबमिला-
 ३२ प्रकृतियों को उपर्युक्त १०१ में से घटाकर शेष ६६
 ७ प्रकृतियों का बन्ध पर्याप्त तिर्यक्षों को विभगुणस्थान में होता
 ८ । श्रीधर गुणस्थान में उनका देवआयु के बन्ध का सम्भव होने
 ९ कारण ३० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है ।

० सदा विभक्त द्विष्टा आत्र बध प न बरह

१ बधन २ मनुष्य आत्मय ३ वीर

(निर्यञ्जगति का बन्धस्थानिय) ममरक्यों होने हुए निर्यञ्ज अपने जन्म-म्यभावमे ही त्रिननामकर्म को बाँध मरुते, वे आहारक-द्विक को भी नहीं बाँधते, इसका कारण है कि उसका बन्ध, चारित्र धागु करनेवालों को ही हो मर है, पर तिर्यञ्च, चारित्र के अधिकारी नहीं हैं । अतएव उन सामान्य-बन्ध में उक्त ३ प्रकृतियों को गिनना नहीं की है ॥ १४ ॥

विष्णु नरयसाल सासणि, सुराड अणुणगीम विष्णु मने
ससुराड सयरि संमे, बीपकसाए विणा देमे ॥ ८ ॥

विना नरकपोडम सासादने सुरायुरनैकाग्रितनं विना विधे ।
ससुरायुः सप्तातिः सम्यक्त्वे द्वितीयकपायान्विना देसे ॥ ८ ॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त निर्यञ्च १० प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि पूर्वोक्त ११७ में से नरक-त्रिक से लेकर सेवार्त-पर्यन्त १६ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते । तीसरे गुणस्थान में वे ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं; क्योंकि उक्त १०१ में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क से लेकर ब्रह्मण्य नाराचमंहनन-पर्यन्त ३१ तथा देवश्रायु इन ३२ प्रकृतियों का बन्ध उनको नहीं होता । चौथे गुणस्थान में वे उक्त ६६ तथा देवश्रायु—कुल ७० प्रकृतियों को बाँधते हैं । तथा पाँचवें गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि उक्त ७० में से अग्रन्यास्यानाचरण कपायों का बन्ध उनको नहीं होता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त तिर्यञ्च
 १३ को चौथे द्वे परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान द्वे
 ही चौथे; क्योंकि उस गुणस्थान के समय 'आयु चौथे
 १ दोस्त अन्वयमाय ही नहीं होते । तथा उस गुणस्थान में
 गुणस्थान १६ (मनुष्य-वृद्धि, औदारिक-वृद्धि, वरुण-
 १३ अन्वयमाय और मनुष्य आयु) प्रवृत्तियों को भी वे नहीं
 पावते । इसका कारण यह है कि चौथे गुणस्थान की तरह
 तीसरे गुणस्थान के समय, पर्याप्त मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों
 १ देवगति-योग्य प्रवृत्तियों को चौथे द्वे; मनुष्यगति-योग्य
 १३ को नहीं । इस प्रकार अनन्तानुबन्धि-चतुष्क में लेकर
 १३ प्रवृत्तियों—जिनका बन्ध तीसरे गुणस्थानमें किया को नहीं
 १३—उन्हें भी वे नहीं चौथे । इसमें देवआयु १, मनुष्यगति
 १३ ६ तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क आदि २५—सर्वमिला-
 १३ प्रवृत्तियों को उपर्युक्त १०१ में वे पटाकर शेष ६६
 १३ का बन्ध पर्याप्त तिर्यञ्चों को मिश्रगुणस्थान में होता
 १ चौथे गुणस्थान में उनको देवआयु के बन्ध का सम्भार होने
 १ कारण ७ प्रवृत्तियों का बन्ध माना जाता है ।

६ मनुष्यगति-योग्य आयु बन्ध पर्याप्त १३

१३ अन्वयमाय मिश्रगुण आयु बन्ध १३

परन्तु पांचवें गुणस्थान में इनको ६६ प्रकृतियों का रूप माना गया है; क्योंकि वन गुणस्थान में ४ अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का बन्ध नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का बन्ध पांचवें गुणस्थान में लेकर आगे के गुणस्थानों में न होने का कारण यह है कि 'कषाय के बन्ध का कारण कषाय का उदय है' । जिस प्रकार के कषाय का उदय हो उसी प्रकार के कषाय का बन्ध हो सकता है । अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय पहले चार ही गुणस्थानों में है, आगे नहीं, अतएव इन का बन्ध भी पहले चार ही गुणस्थानों में होता है ॥ ८ ॥



मनुष्यादि का वर्णमार्गः ।

इयं चतुर्गुणेषु रि नग, परमपता सजिग चोदु देनाई
गिगु इगारन हीनं, नरसउ अयनत निरियनग ॥६॥

इति चतुर्गुणेषु रि नराः परमपताः सजिनमोघो देनादिगु ।
जिनहादशहीने नरतामपर्यागतिर्येनराः ॥ ९ ॥

अर्थ—पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वर्तमान पर्याप्त मनुष्य, उन्हीं ४ गुणस्थानों में वर्तमान पर्याप्त तिर्यच के समान प्रकृतियों को बांधने हैं । मैद केवल इतना ही है कि चौथे गुणस्थान वाले पर्याप्त तिर्यच, जिन नाम कर्म को नहीं बांधते पर मनुष्य उसे बांधते हैं । तथा पांचवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में, वर्तमान मनुष्य दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे हुये कर्म के अनुसार प्रकृतियों को बांधते हैं । जो तिर्यच तथा मनुष्य अपर्याप्त हैं वे जिन नाम कर्म से लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११ प्रकृतियों को छोड़ कर ग्रन्थयोग्य १२० प्रकृतियों में से शेष १०६ प्रकृतियों को बांधते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पर्याप्त तिर्यच पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बांधते हैं इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य भी उन ३ गुणस्थानों में उनकी उतनी ही प्रकृतियों को बांधते हैं । परन्तु

पाँच गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यञ्च ७० प्रवृत्तियों को बाँधते हैं, पर पर्याप्त मनुष्य ७१ प्रवृत्तियों को, क्योंकि ये जिन नाम कर्म को बाँधते हैं भेदिन तिर्यञ्च उसे नहीं बाँधते । पाँचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान—पर्याप्त मनुष्य गुणस्थान में जितनी २ वन्धयोग्य प्रवृत्तियाँ हमारे कर्ममन्ध के बन्धाधिवार में बड़ी हुई हैं, उतनी उतनी ही प्रवृत्तियों को हम उस गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य बाँधते हैं, जैसे:—पाँचवें गुणस्थान में ६७, छठे में ६१, सातवें में ५६ या ५८ इत्यादि ।

अपर्याप्त तिर्यञ्च तथा अपर्याप्त मनुष्य को १०६ प्रवृत्तियों का जो बन्ध बड़ा है, वह सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से समझना चाहिये; क्योंकि इसे लम्बे 'अपर्याप्त' शब्द का मगलद लान्घि अपर्याप्त में है, परन्तु अपर्याप्त में नहीं और लान्घि अपर्याप्त जीव को पड़ती ही गुणस्थान होता है ।

'अपर्याप्त' शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि वरुण अपर्याप्त मनुष्य, दीर्घकाल नाम कर्म को बाँध भी सकता है, पर १०६ में हम प्रवृत्ति की गणना नहीं हैं ॥ ६ ॥



३
३
३

रयणु व मर्गं कृपागन् आगयाई उज्जोगनउ गइदा।
अपज्जननिगिय व नयमय, विगिदिपुद्धिजननयविनउं ॥

रत्नरत्ननरत्नमारादय आगतादय उज्जोगनपुगिदिदाः ।
अपयांतनियंमन्ननताव मेरेन्द्रियपृथीवदमयविकले ॥ ??

अर्थ—तीमरे मनरुमार-देवलोक में लेकर आठवें प्र-
कार तक के देव, रत्नप्रभा-नरक के नागों के समान प्र-
बन्ध के अधिकारी हैं; अर्थात् वे सामान्यरूप में १०१
निध्यात्य-गुणस्थान में १००, दूसरे गुणस्थान में ६६, तीसरे
में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं।
आगत में अच्युत-पर्यन्त ४ देवलोक और ६ प्रवेयक के देव
उद्योत-चतुष्क के मिवाय और मय प्रकृतियों को सनरुमार के
देवों के समान बांधते हैं, अर्थात् वे सामान्यरूप से ६५
पहले गुणस्थान में ६६, दूसरे में ६२, तीसरे में ७० और
चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों को बांधते हैं। (इन्द्रिय और
कायमार्गणा का बन्धस्वामित्व)— एकेंद्रिय, विकलेन्द्रिय,
पृथ्वीकायिक, जलकायिक तथा वनस्पतिकायिक जीव, अपर्याप्त
निर्यञ्च के भवान् जिननामकर्म में लेकर नरकत्रिक-पर्यन्त ११
प्रकृतियों को छोड़कर बन्ध-योग्य १२० में से से १०६
प्रकृतियों को सामान्यरूप में तथा पहले गुणस्थान में बांधते
हैं ॥ ११ ॥

भारार्थि—शरीर-पुण्य में शरीरनामकर्म, शरीर-पुण्य और शरीर-पुण्य का प्रत्यक्ष होता है।
 अर्थात् शरीर-पुण्य के विषय में तात्पर्य में बुद्धि
 शरीर-पुण्य-प्राप्ति के उद्देश्य के लिये शरीर-पुण्य
 शरीर-पुण्य में ७२ प्रमाणों के लिये के लिये
 उन्ने शरीर के लिये द्वारा शरीर-पुण्य नहीं होता
 अर्थात् शरीर-पुण्य को तात्पर्य के लिये शरीर-पुण्य
 शरीर-पुण्य के लिये के लिये शरीर-पुण्य तथा शरीर-पुण्य
 शरीर-पुण्य ही होते हैं, और न शरीर-पुण्य शरीर-पुण्य
 शरीर के लिये शरीर-पुण्य शरीर-पुण्य शरीर-पुण्य
 ते ॥ ६६ ॥



छनवद् सासयि विष्णु मुहु-मतेर केद् पुण्यविति चउनवद् ।
तिरियनराऊहि विष्णा, तणुपज्जति* न ते जंति ॥ १२ ॥

पण्यवतिः सासादने विना मुहुमत्रयोदस केचित्पुनर्मुच्यन्ति ।

तिर्यग्गुणरायुभ्यां विना तनुपर्याप्ति न ते यान्ति ॥ १२ ॥

अर्थ-पुत्रोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव दूसरे गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों को बाँधते हैं, क्योंकि पहले गुणस्थान की वक्ष्य योग्य १०६ में से सूक्ष्माद्रि में लेकर भेदाभि-पर्यन्त १३ प्रकृतियों को वे नहीं बाँधते । कोई आचार्य कहते हैं कि-“वे एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थान के सम्य तिर्यग्गुण आतु तथा मनुष्यआतु को नहीं बाँधते, इसमें वे उस गुणस्थान में ६४ प्रकृतियों को ही बाँधते हैं । दूसरे गुणस्थान में तिर्यग्गुण आतु तथा मनुष्य आतु बाँध न करने का कारण यह है कि-“एकेन्द्रिय आदि, इस गुणस्थान में रह कर शरीरपर करने नहीं पाते ।” ॥ १२ ॥

* “न तेन जंति” इत्यत्रि पाठः ।

+ इस अर्थ में सर्वत्र दिया हुआ १२ और

वक्ष्य का मत भेद प्रमाण ब्रह्माण्डसिंह में है, वषा-

मन्त्रा बर्तते मन्त्रा, निमित्त ईशा व मीन

य वक्ष्य वक्ष्यता—मने च परिदिष्टा वक्ष्य २

इस विषय दिया मन्त्रा, तनु पर्याप्ति न केन

न न मन्त्रा वक्ष्यता, मने वक्ष्य २

प्राप्य कहते हैं कि सामान्यमान में रहकर इन्द्रिय पयोसि को पूर्ण करने की तो बात ही क्या शरीर पयोसि को भी पूर्ण नहीं कर सकते अर्थात् शरीर पयोसि पूर्ण करने के पहले ही एकेन्द्रिय आदि व्यक्तित्व जोय सामान्य मानवों से न्यून हो जाते हैं। इसलिये ये दूसरे गुणस्थान में रहकर आयु को बांध नहीं सकते ॥ १२ ॥

३। भाग—अर्थात् १०१ आचक्षिप्यै वीत ब्रूतेन पर आयु-बन्ध का सम्भव है । पर उसके पहले ही सामान्यमानवत्व बना आता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट १ आचक्षिप्यै तक ही रह सकता है। इसलिये सामान्यमान-अवस्था में ही शरीर पयोसि और इन्द्रिय पयोसि का पूर्ण बन आना मान लिया जाय, तथापि उस अवस्थामें आयु-बन्ध का किसी तरह सम्भव ही नहीं। "इसी की पुष्टि में उन्होंने औदारिक द्विष मार्गणा का सामान्यमान गुणस्थान-सम्बन्ध १४ प्रकृतियों के बच का भी उल्लेख किया है। १५ का बंध माननेवाले आचार्य का क्या अभिप्राय है, इसे कोई नहीं जानते। यही बात श्री जीवविज्ञपत्री और श्री ज्ञानो मसूरी ने अपने टिप्पणों में कही है। १४ के बंध का पक्ष विशेष सम्मत मान पड़ता है क्योंकि उस एक ही पक्ष का उल्लेख गोमन्टमार (कर्मकाण्ड) में भी है—

पुष्पिण्डरं विनि विगले तथुप्ययतो ह्यु सामथो देहे ।

पञ्जलिं च वि पात्रदि हृदि नरतिरियाउग स्थिति ॥ ११३ ॥

अर्थात् एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में पूर्वोक्त—द्विष अप-योसि—के समान बन्ध होता है। उस एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पैदा हुआ सामान्यमान सम्यक्त्वा जाय शरीर पयोसि को पूरा कर नहीं सकता, हमसे उसको उस अवस्था में मनुष्य आयु या तिथि-आयु का बन्ध नहीं होता।

“इस गाथा में पञ्चेन्द्रिय ज्ञानि, व्रमकाय, और गतिव्रम का
बन्धस्वामित्व कहकर १६वीं गाथा तक योग मार्गणा
के बन्ध-स्वामित्व का विचार करने हैं ।

ओद्गु पणिदिनमे गइ-तमे जिगिरकार नरनिगुन्न निना ।
मगुवयनोगे ओदो, उरले नरभंगु तम्मिस्मे ॥ १३ ॥

ओघः पञ्चेन्द्रियव्रमे गतिव्रमे त्रिनेकादश नरप्रिहोष्वं निदा ।
मनोरचोयोगे ओघ औदारिके नरभंगन्नाम्भिथे ॥ १३ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय ज्ञानि और व्रमकाय में ओघ-बन्ध-
धिकार के समान-प्रकृतियन्ध जानना । गतिव्रम (तेज का
और वायुकाय) में जिनएकादश-जिननामकर्म से लेकर नर-
त्रिक पर्यन्त ११-मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५
को छोड़, १२० में से शेष १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है ।
(योगमार्गणा का बन्धस्वामित्व) मनोयोग तथा वचनयोग में
अर्थान् मनोयोग वाले तथा मनोयोगसहितवचनयोग वाले
जीवों में बन्धाधिकार के समान प्रकृति-बन्ध समझना । औदा-
रिक काययोग में अर्थान् मनोयोगवचनयोगसहित औदारिक
काययोग वालों में नरभंग-पर्याप्त मनुष्य के समान बन्ध-
स्वामित्व-समझना ॥ १३ ॥

भावार्थ—पञ्चेन्द्रियज्ञानि और व्रमकाय का बन्धस्वामित्व
बन्धाधिकार के समान कहा हुआ है, इसका मतलब यह है
कि • जैसे हमारे कर्मबन्ध में बन्धाधिकार में मानान्वयरूप से

११७ और किन्नास ११७१ गुल्मधानों के समान ११७, ११८, ११९, १२० गुल्मदि प्रकृतिदो का सम्यक् कहा है, ये तो ही भगवते-समस्त की कलावाय के भी आभासवाय में ११७ समान के १ गुल्मधानों के समान ११७, ११८ कादि प्रकृतिदो का सम्यक् कहा जा जाई में ।

इसी तरह ११८ भी जिना आभास में सम्यक्विचार के समान सम्यक्वाय का सम्यक् कहा जा समानों में जिने गुल्मधानों का सम्यक् ही, समान गुल्मधानों में सम्यक्विचार के समान सम्यक्वाय का सम्यक् कहा जा समानों में ।

अतिप्रसन्न ११८ काय में सम्यक् ही सम्यक् के समान सम्यक् ही, सम्यक् ही, सम्यक् सम्यक्वाय में का सम्यक् ही सम्यक् ही और ही सम्यक्वाय में का है । दूसरे में, सम्यक् सम्यक् ही सम्यक् सम्यक्वाय में का होता है, पर जिने अतिप्रसन्न वादी जाती है । ये दूसरे प्रकार के ही, 'अतिप्रसन्न' या 'गुरुप्रसन्न' कहलाते हैं ।

इन अतिप्रसन्न में ११८ प्रकृतिदो का सम्यक्वायमित्र कहा हुआ है, जो सम्यक्वाय तथा विचार दोनों प्रकार में, क्योंकि इनमें सम्यक् गुल्मधान ही होता है । इनके सम्यक्वायमित्र में जिने सम्यक्वाय का सम्यक् सम्यक्वाय ११८ प्रकृतिदो का न जिने का सम्यक्वाय का सम्यक्वाय सम्यक्वाय सम्यक्वाय सम्यक्वाय सम्यक्वाय में

जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं । परन्तु उक्त १५ प्रकृतियों को मनुष्य, देव या नरक गति ही में उदय पाने योग्य हैं ।

यद्यपि गाथा में ' मणवयजोगे ' तथा ' उरले ' ये दोनों पद सामान्य हैं, तथापि ' ओहो ' और ' नरभंगु ' शब्द के सन्निधान से टीका में ' वयजोग का ' मतलब मनोयोग-साहित-वचनयोग और ' उरल ' का मतलब मनोयोगवचन-योगसाहित औदारिक काययोग-इतना रक्खा गया है, इसलिये अर्थ भी टीका के अनुसार ही कर दिया गया है । परन्तु 'वयजोग' का मतलब केवल वचनयोग और 'उरल' का मतलब केवल औदारिक काययोग रख कर भी उसमें बन्धस्थानित्व का विचार किआ हुआ है; सो इस प्रकार है कि केवल वचनयोग में तथा केवल औदारिक काययोग में विकलेन्द्रिय या एकेंद्रिय के समान बन्धस्थानित्व है अर्थात् सामान्यरूप से तथा पहले गुणस्थान में १०६ और दूसरे गुणस्थान में ६६ या ६४ प्रकृतियों का बन्धस्थानित्व है ।

योग का, तथा उसके मनोयोग आदि तीन मूल भेदों का और सत्य मनोयोग आदि १५ उत्तर भेदों का स्वरूप चौथे कर्मबन्ध की गाथा ६, १०, और २४ वीं में जान लेना ॥११॥



अथ चत्वारिंश विष्णा, जिष्णुपञ्चयुय संमि जागिणो मां
विष्णु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ ११ ॥

अनचतुर्विंशति विना जिनपञ्चकयुताः सम्यक्त्वे योगिनः क्व
विना तिर्यङ्नरायुः कामगेप्येवमाहारकद्विक ओषः ॥ १५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ६४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि
चतुष्क से लेकर तिर्यच-द्विक-पर्यन्त २४ प्रकृतियों को
पटा कर शेष ७० में जिननामकर्म, देव-द्विक तथा वैदिक-
द्विक इन ५ प्रकृतियों के मिलाने से ७५ प्रकृतियों होते हैं।
* इनका बन्ध औदारिकमिश्रकाययोग में चौथे गुणस्थान के

* चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्रकाययोग में जिन ५
प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यादिक, औदारिक-
और प्रथम मंदनन-इन २ प्रकृतियों का समावेश है। हम पाते हैं
जीवविज्ञान जी महाराज ने अपने दवे में संदेह डठाया है कि “चौथे
गुणस्थान में औदारिक मिश्रकाययोगी उक्त २ प्रकृतियों को बाँध
नहीं सकता। क्योंकि तिर्यच तथा मनुष्य के मिश्रण दूसरों में उसका
का सम्भव नहीं है और तिर्यच मनुष्य उस गुणस्थान में उक्त २
प्रकृतियों को बाँध ही नहीं सकते। अतएव तिर्यच गति तथा मनुष्य गति
में चौथे गुणस्थान के समय जो कम से ७० तथा ७२ प्रकृतियों का बन्ध
स्वामित्व कहा गया है, उसमें उक्त २ प्रकृतियों नहीं आतीं।” हम संदेह
का निवारण श्री जयसोमसूत्रि ने किया है --

वे अपने दवे में लिखते हैं कि, “साधारण ‘अथचत्वारिंशमाह’ हम
पर का अर्थ अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियों यह नहीं करना,
हिन्दु ‘आह’ शब्द से और भी २ प्रकृतियों लेकर, अनन्तानुबन्धी
आदि २४ तथा मनुष्यादिक आदि २, कुल २६ प्रकृतियों—यह अर्थ

सुरश्रोहो विज्ज्वं, निरियनराउ रहिओ य तन्मिस्मै ।
 वेयतिगाइम वियतिय—रुमाय नवदुवउपंचगुले ॥ ११ ॥
 सुरोयो वैक्रिये तिर्यंइनरायूरहितरव तन्मिस्मै ।
 वेद-त्रिकादिमाद्वितीयतृतीयकपाया नवद्विचतुष्यगुले ॥ १२ ॥

अर्थ—वैक्रिय काययोग में देवगति के समान बन्धनत्व है । वैक्रियभिन्नकाययोग में तिर्यश्च प्रायु और मनुष्यक सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग समान है । (वेद और कपाय मार्गणा का बन्धस्वामित्व तीन वेद में ६ गुणस्थान हैं । आदिम—पहले ४ अनन्ततुक्क कपायों में पहला दूसरा दो गुणस्थान हैं । दूसरे—अमरतुक्क नावरण—कपायों में पहिले ४ गुणस्थान हैं । तीसरे—अमरतुक्क नावरण—कपायों में पहिले ५ गुणस्थान हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—वैक्रिय काययोग । इसके अधिकारी देव ८ नारक हो हैं । इसमें इसमें गुणस्थान देवगति के समान ४ हैं माने हुए हैं और इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही अर्थात् सामान्यरूप में १०४, पहिले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है ।

वैक्रिपाविन्नकाययोग । इस के स्वामी भी देव तथा नारक ही हैं, पर इसमें आयु का बन्ध अमरमय है; क्योंकि यह योग अमरपान अवस्था ही में देवों तथा नारकों को होता है, लेकिन देव तथा नारक पदान्तर अवस्था में, अर्थात् ६ महीने

रूप—किमी अंश में ज्ञानरूप तथा किमी अंश में अज्ञान-माना जाता है। "जब दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में ज्ञानत्वकी मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण अज्ञानत्व की मात्रा कम, तब हम मिश्रज्ञान को ज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थानों के सम्बन्धी जीव ही अज्ञानी समझने चाहिये। पर जब दृष्टि की अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में अज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की शुद्धि की कमी के कारण ज्ञानत्वकी मात्रा कम, तब हम मिश्रज्ञान को अज्ञान मान कर मिश्रज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे इन तीनों गुणस्थानों के सम्बन्धी जीव अज्ञानी समझने चाहिये। चौथे से लेकर आठवें के सब गुणस्थानों के समय सम्यक्त्व-गुण के प्रकट होने से जीवों की दृष्टि शुद्ध ही होती है—अशुद्ध नहीं, इसलिये उन जीवों का ज्ञान ज्ञानरूप ही (सम्यग्ज्ञान) माना जाता है, अज्ञान नहीं। किसी के ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निर्णय, उसकी दृष्टि (श्रद्धात्मक परिणाम) की शुद्धि या अशुद्धि पर निर्भर है।

* जो, मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में मिथ्यात्वोश अधिक होने से अशुद्धि विशेष रहती है, और जो, सम्यक्त्व की ओर तीसरे गुणस्थान में आता है, उसकी मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वोश अधिक होने से शुद्धि विशेष रहती है।

“ दो गाथाओं से सम्यक्त्व मार्गणा का बन्धस्वामित्व । ”

अद्वयसमि चउ वेयगि, खइये इक्कार मिच्छत्रिणि द्वे
मुहुमि सडाणं तेरस, आहारगि नियनियगुणोदो ॥१८॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेदके चाधिक एकादश मिध्यात्वत्रिके द्वे
सूस्मे स्वस्थानं त्रयोदशाऽऽहारके निजनिजगुणौघः ॥ १९॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ—चौथे से ग्यारहवें तक
गुणस्थान हैं । वेदक (चायोपशमिक) में ४ गुणस्थान—चौथे से
सातवें तक—हैं । मिध्यात्व-त्रिक में (मिध्यात्व, मात्वादन और
मिश्रदृष्टि में) , देशविरति में और सूक्ष्ममम्पराय में अपने
अपना एक ही गुणस्थान है । आहारक मार्गणा में १३ गुणस्थान
हैं । वेद-त्रिक से लेकर यहाँ तक की मत्र मार्गणाओं का बन्ध-
स्वामित्व अपने अपने गुणस्थान के विषय में ओघ-बन्धवि-
कार के समान-है ॥१८॥

भावार्थ

उपशम सम्यक्त्व । यह सम्यक्त्व, देशविरति, प्रत्यक्ष-
संयत-विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति के साथ भी प्राप्त होता
है । इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक ४ गुण-
स्थान माने जाते हैं । इसी प्रकार आठवें से ग्यारहवें तक ४
गुणस्थानों में वर्तमान उपशमश्रेणीवाले जीव को भी यह सम्य-
क्त्व रहता है । इसलिये इसमें सब मिलाकर ८ गुणस्थान कहे

दुपे है। इस सम्बन्ध के समय आयु का बन्ध नहीं होता-यह बात अगली गाथा में बर्ही जायगी। इससे चौथे गुणस्थान में तो देवआयु, मनुष्यआयु, दोनों का बन्ध नहीं होता और पाँचवें आदि गुणस्थान में देवआयु का बन्ध नहीं होता। अव-एव इस सम्बन्ध में सामान्यरूप से ७७ प्रकृतियों का, चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८-५६-२६, नववें में २२-२१-२०-१६-१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व है।

षेदक । इस सम्बन्ध का संभव चौथे से सातवें तक पार गुणस्थानों में है। इतने आहारक-द्विक के बन्ध का संभव है जिसमें इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों का, विशेष रूप से—चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का है।

छापिक । यह चौथे से चौदहवें तक ११ गुणस्थानों में पाया जा सकता है। इसमें भी आहारक-द्विक का बन्ध हो सकता है। इसलिये इसका बन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से ७६ प्रकृतियों का और चौथे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धा-धिकार के समान है।

मिथ्यात्व-त्रिक । इसमें एक एक गुणस्थान है—मिथ्यात्व मार्गणा में पदला, सात्वादन मार्गणा में दुमरा और विमर्हण

में तीसरा गुणस्थान है । अतएव इस त्रिक का सामान्य व
विशेष बन्धस्वामित्व बराबर ही है; जैसे:—सामान्य व
विशेषरूप में निध्यात्य में ११७, सास्वादन में १०१ और
मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का ।

देशविरति और सूक्ष्मसम्प्राय । ये दो संयन भी एक
गुणस्थान ही में माने जाते हैं । देशविरति, केवल पांचवें
गुणस्थान में और सूक्ष्मसम्प्राय, केवल दसवें गुणस्थान में
है । अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी अपने अपने गुण-
स्थान में कहे हुये बन्धाधिकार के समान ही है अर्थात् देश-
विरति का बन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसम्प्राय
का १७ प्रकृतियों का है ।

आहारकमार्गिणा । इसमें तेरह गुणस्थान माने जाते हैं ।
इसका बन्धस्वामित्व सामान्यरूप में तथा अपने प्रत्येक गुण-
स्थान में बन्धाधिकार के समान है ॥ १६ ॥



“ एवमाय सम्यक्त्व के सम्बन्ध में कुछ
विशेषता दिग्गते हैं:— ”

परमुपममि बहूता, आउ न संशंति तेन अन्ययुगे ।
देवमनुष्यादरीणो, देमासु पुन गुगउ विद्या ॥२०॥”
परमुपममे वर्तमाना आहुतं वनन्ति तेनायतमुने ।
देवमनुष्यादृद्भिर्देतादिषु पुनः सुरासुपेता ॥ २० ॥

अर्थ—एवमाय सम्यक्त्व में वर्तमान जीव, आधु-बन्ध
नहीं करते, इससे अयत-अधिरतमम्यगृष्टि-गुणस्थान में
देवआधु तथा मनुष्यआधु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का
बन्ध होता है । और देशधिरति आदि गुणस्थानों में देवआधु
के बिना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

भावार्थ—अन्य सम्यक्त्वों की अपेक्षा औपशमिक
सम्यक्त्वमें विशेषता यह है कि इसमें वर्तमान जीव के अन्य-

• इस गाथा के विषय की स्पष्टता के साथ प्रार्थना चन्द्रशेखरानिधि
में इसप्रकार कहा है —

“कथाभ्यं कृता, अटपटमिन्कवि छाटप तय ।

बचति तेन अत्रया, गुरनर आअहि उदपु ७ २१ ७

आयो देस अवाहलु सुवाठईयो व आच उदयलो’ इत्यादि २७

धमाय ऐसे । नहीं होते, जिनमें कि आयु-बन्ध दिन के
सके । अतएव इस सम्यक्त्व के योग्य ८ गुणस्थान, ३
पिद्धली गाथा में कहे गये हैं उनमें से चौथे से सातवें तक ६
गुणस्थानों में—जिनमें कि आयु-बन्ध का सम्भव है—आयु-बन्ध
नहीं होता ।

चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व की दो देव-आयु, मनुष्य-
आयु दो का वर्जन इसलिये किया है कि वसमें इन दो
आयुओं के ही बन्धका सम्भव है, अन्य आयुओं के बन्ध

१ उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—पहले प्रकार का मन्थिने
बन्ध, जो पहले पहल अतीति मिथ्यात्व का होता है । दूसरे प्रकार का
उपशमश्रेण में होने वाला, जो आठवें से ग्यारहवें तक ४ गुणस्थानों
में पाया जा सकता है । पिछले प्रकार के सम्यक्त्व-सम्बन्धी गुणस्थानों
में तो आयु का बन्ध सर्वथा वर्जित है । रहे पहले प्रकार के सम्यक्त्व
सम्बन्धी चौथे से सातवें तक ४ गुणस्थान । मं उनमें भी शीघ्रशक्ति
सम्यक्त्व की आयु-बन्ध नहीं कर सकता । इसमें प्रमाण यह पाया जाता
है:—

“अथर्वेष्टोदयमाउगर्धं काशं च सातयो कुण्डं ।

उवसमसम्मदिही चउपहमिककपि नो कुण्डं ॥ १ ॥”

अर्थात् अतन्नानुबन्धी कषाय का बन्ध, उसका उदय, आयु का
बन्ध और मरण-इन ४ कार्यों को मात्रात्वन सम्प्राप्त कर सकता है
पर इन में से एक भी कार्य को उपशम सम्यक्त्व नहीं कर सकता ।

इस प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि उपशम सम्यक्त्व के सम्यक्
आयु-बन्ध-योग्य परिणाम नहीं होते ।

का नहीं, क्योंकि चाँचे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा मारुत, मनुष्यआयु को ही बाँध सकते हैं और तिर्यञ्च तथा मनुष्य, देवआयु को ही ।

उपराग मन्थस्त्री के पाँचवें आदि गुणस्थानों के पञ्च में केवल देवआयु को बाँध दिया है । इस का कारण यह है कि उन गुणस्थानों में केवल देवआयु के बन्ध का सम्भव है; क्योंकि पाँचवें गुणस्थान के अधिकारी तिर्यञ्च तथा मनुष्य ही हैं और छठे मानव गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देवआयु का बन्ध कर सकते हैं ॥ २० ॥

“ दो गाथाओं में शेरया का बन्धस्वामित्व ।”
 आहो अहारसयं, आहारदुगूण-भाइलेमानिगे ।
 से निन्योसं मिच्छे, सायाइमु सच्चाई ओहो ॥ २१ ॥
 ओपेऽष्टादसातनाहारकद्विचोनमादितेरया त्रिके ।
 जालीथेने निध्यात्वे सासादनादिषु सर्वश्रीपः ॥ २१ ॥

अर्थ—पहली तीन—वृष्ण, नील, काशेख—शेरयाओं में आहारक-द्विक को छोड़, १२० में से शेष ११८ प्रकृतियों का ओष-अमान्य-बन्धस्वामित्व है । मिध्यात्व गुणस्थान में हीपंकर नामकर्म के सिवाय ११८ में से शेष ११७ का बन्धस्वामित्व है । और सात्वादन आदि अन्य सब—दूसरा, तीसरा, चौथा तीन—गुणस्थानों में ओष (बन्धाधिकार के समान) प्रकृति-वध है ॥ २१ ॥

अर्थ—तेजोहरया का व्यवहामित्य नरक-नवक-त्रिक, सूक्ष्मत्रिक और विकल-त्रिक—के मियाय अन्य मय प्रकृतियों का है। उद्योत-चतुष्टक (उद्योत नामकर्म, त्रिय-चतुष्टक, त्रिय-च आयु) और नरक-द्वादश (नरक-त्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकैट्रिय, स्वावर, आदय) इन सोलह प्रकृतियों

सो भी देवी तथा नारकों की अपेक्षा में। धर्ममयती के उद्गमन कृष्ण आदि तीन सेरयाओं का अनुर्थ गुणरवान-मन्त्रन्धी कर्ममय देव-आयु-रहित अर्थात् ७६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए। कर्मग्रन्थ में ७७ प्रकृतियों का माना गया है। ”

उद्गमन (विरोध) का समाधान नहीं दिया नहीं गुणरवानों ने बहुश्रुत-गन्ध कह कर उसे छोड़ दिया है। गोमन्त्रान्तर इस शंका के लिये जगह ही नहीं है। क्योंकि उसे भगवती का मान्य करने का आग्रह नहीं है। पर भगवती का माननेवाले प्रकृतियों के लिये यह शंका अपेक्षणीय नहीं है।

उद्गमन के सम्बन्ध में जब तक किसी की ओर से प्रामाणिक समाधान प्रकट न हो, यह समाधान मान लेने में आपत्ति नहीं जान पड़ती कि कृष्ण आदि तीन सेरयावाले मन्त्रान्तर के प्रकृति-ग्रन्थ में देव-आयु की गणना की गयी है सो कर्मग्रन्थ के अनुसार; वैदिक मय के अनुसार नहीं।

कर्मग्रन्थ और विद्वान् का किसी २ विषय में मत भेद है, बात सीधे कर्मग्रन्थ की ७६ वीं गाय में उल्लिखित वैदिक मन्त्रान्तर निर्विवाद सिद्ध है। इसलिये हम कर्मग्रन्थ में भी उद्गमन देव-आयु ग्रन्थ होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ और विद्वान् का मत मान कर आपत्ति के विरोध का परिहार कर लेना अनुचित नहीं।

प्रकृतियों को बाँध नहीं सकते । क्योंकि उक्त ६ प्रकृतियाँ, इन्द्रियादि तीन अशुभ लेश्याओं में ही बाँधी जाती हैं । इनमें तेजोलेश्या वाले, उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें—कण्ठ, गान्धर्व, मृदमण्डलेन्द्रिय, और विकलेन्द्रिय में—उक्त ६ प्रकृतियों का उद्भव होता है । अतएव तेजोलेश्या में सामान्यरूप से ११ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और इन्द्रिय-रक-द्विक के मियाय १११ में मै शेष १०८ का और इनसे सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के अनुसार वन्धस्वामित्व है ।

पद्मलेश्या । यह भी पहले सात ही गुणस्थानों में पैदा होती है । तेजोलेश्या में इसमें विशेषता यह है कि इनमें धारण करने वाले उक्त नरक-नवक के आतिरिक्त एकेन्द्रिय, तन्मय और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी नहीं बाँधते । इसमें पद्मलेश्या के सामान्य वन्ध में १२ प्रकृतियाँ छोड़कर ११ प्रकृतियाँ गिनी जाती हैं । तेजोलेश्या वाले, एकेन्द्रियरूप में पैदा हो सकते हैं, पर पद्मलेश्या वाले नहीं । इसी कारण एकेन्द्रिय आदि उक्त तीन प्रकृतियों भी वर्जित हैं । अतएव पद्मलेश्या का वन्धस्वामित्व, सामान्यरूप से १०८ प्रकृतियों का, पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहार-रक-द्विक के घटाने में १०५ का और दूसरे में सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के नमान समझना ।

लेखा का वन्द्यव्यामित्र सामान्यरूप में १०४ मूर्तियों के
मित्रव्यामित्र गुणव्यामित्र में त्रिननामकर्म और आद्यादि-विरोध
गणों के समान ही। उद्योग-चतुष्क परिगणित है। तथा कर्मसम-
१२१ में शुक्ललेखा का वन्द्यव्यामित्र कहा हुआ है त्रिभिन्न रूपों
चतुष्क का वर्णन है।

इस प्रकार कर्मसम तथा गोममटमार में वन्द्यव्यामित्र
होने पर भी दिगम्बरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं होता कि
कि दिगम्बर-मत के अनुसार आन्तव (स्वेताम्बर प्रसिद्ध हस्त
देवलोको में पद्मलेखा ही है- (नन्दाय-आध्याय-४-श्लो-२० की मन्त्र-विरोध
टीका)। अतएव दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि
सहस्रार देवलोको पर्यन्त के वन्द्यव्यामित्र में उद्योग-चतुष्क का वर्णन
है जो पद्मलेखा वस्त्रा की अपेक्षा में, शुक्ललेखा वस्त्रा की
अपेक्षा में नहीं।

परन्तु नन्दाय भाष्य, समहर्षा आदि स्वतन्त्राचार्य
में देवलोको की लेखा के विषय में जैसा उल्लेख है उसके अनुसार
उक्त विरोध का परिहार नहीं होता।

यद्यपि इस विरोध के परिहार के लिये श्री जयविजयजीने
कुछ भी नहीं कहा है, पर धर्म जयसोमसूत्र ने तो यह विचार है कि
“उक्त विरोध को दूर करने के लिये यह मानना चाहिये कि यों
आदि देवलोको में ही केवल शुक्ललेखा है।”

इस विरोध के परिहार में धर्म जयसोमसूत्र का कथन, धर्म
देने योग्य है। उस कथन के अनुसार छूटे आदि तीन देवलोको में पर
शुक्ल - चतुष्क और नवम आदि देवलोको में केवल शुक्ल लेखा
मान लेने पर उक्त विरोध दूर जाता है।

अथ १०१ वा, और दूसरे गुणध्यान में ननुमक वेद, हुं-
मन्त्र, त्रिपदाव, मेवातीसंहनन-इन ४ को छोड़ १०१ में से

एक यह प्रकट होता है कि लवाधे भाव्य और समदृष्टी-
त्र-त्रिममें एह, मानव और आदव देवलोक में भी केवल दुष्ट
परा का ही उल्लेख है उसकी क्या सीमा ? दूसरा समाधान यह क्या
होवे कि लवाधे भाव्य और समदृष्टी-मूल में जो कथन है वह
गुणध्या की कथना में । अर्थात् एह आदि तीन देवलोको में दुष्ट
कथा पायी की ही बहुलता है, इसलिए उन में एहमेव का सम्भव
है वर भी उनका कथन नहीं किया गया है । शोक में भी एहमेव
प्रकार प्रकाशना में होते हैं । अन्य जातियों के होते हुए भी जब
कालों में बहुलायन होती है तब यही कहा जाता है कि वह मांसियों
का भाव है ।

उक्त समाधान का आशय देने में श्री अयसोमगुरि का कथन
सहायक है । इस प्रकार त्रिगुणध्या मन्त्र भी उन सम्बन्ध में मार्गदर्शक
है । इसलिए उक्त लवाधे-भाव्य और समदृष्टी-मूल की व्याख्या को
उदाहरण बनाकर उक्त विशेष का परिहार कर लेना आवश्यक नहीं जान
सकता ।

त्रिपदा में त्रिगुणध्या मन्त्रों के बाद क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:-

“ शेषेषु लालिकादिष्वामर्षाधिगम्या चतुर्गुणैश्चः ”

(लवाधे भाव्य)

‘ कथयन्ति पण्डिते लालिकां संतापसु सुखलसं हुंति सुरा ’

(समदृष्टी का १०१)

रूप ६७ प्रकृतियों का है । तीसरे में लेकर तेरहवें तक प्रत्येक गुणग्रन्थानमें वह धन्याधिकार के समान है ॥ २२ ॥

“भव्य, अभव्य, मंशी, अभंशी और अनाहारक
मार्गेणा का बन्धस्यामित्य ।”

सर्वगुण भव्यसन्निभु, श्रोतु श्रमत्वा श्रसंनि मिच्छमना ।
सासायि श्रसंनि सन्निभ, कम्मणभंगो थलाहारे ॥२३॥
सर्वगुण मय्यमन्निभोयोऽभय्या असन्निभो मिथ्यासमाः ।
सासादनेऽमंछी संक्षिप्तकर्मणमगोऽनाहारे ॥ २३ ॥

अर्थ—मय (चौदह)गुणस्थान वाले भव्य और मंसि
का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के समान है। अमव्य ई
व्यसंसियों का वन्धम्यामित्व मिध्यात्व मांगरा के समान है।
साम्बादन गुणस्थान में व्यसंसियों का वन्धम्यामित्व मंसि है

“ कर्त्तव्येषु न निग्रहं, मदरमहम्मारोगीति निरिदुगं ।
निरिपाउः उल्लोयां, अत्यि तदो नृपि मदरचउः । ”
(कवचानन्द भा १११)

'गुह्ये गदय्यइकं वामेनिमशामं च ॥ व अग्निः'
(४५५ गद ५५५)

प्रदत्तकप्रदत्ताभ्यामग्नयवर्गावेष्टेषु यद्येतेषां । पुन
सहाशुक्लगत एतेह्यः । तु यद्यशुकलस्यैव नयावांभिर्दि ।

अनाहारक—यह मार्गणा पहिले, दूसरे, चौथे, तेरवें और चौदहवें—इन ५ गुणस्थानों में † पाई जाती है। इनमें पहिला, दूसरा, चौथा ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं जिस समय कि जीव दूसरे स्थानमें पैदा होनेके लिये विप्रलम्भ में जाते हैं; उस समय एक दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होते इसलिये अनाहारक अवस्था रहती है। तेहरवें गुणस्थान में केवल तनुद्वय के तीसरे, चौथे और पांचवें समय में अनाहारकत्व होता है। इस तरह चौदहवें गुणस्थान में भी योग का निरोध-अभाव हो जाने से किसी तरह के आहार का सम्भव नहीं है। पञ्चु चौदहवें गुणस्थान में तो बन्ध का सर्वथा अभाव ही है इसलिये शेष चार गुणस्थानों में अनाहारक के बन्धभारमि का सम्भव है, जो पार्श्वगुणकाययोग के बन्धभारमि के

† यथा.—“पश्चमेतिमद्गघत्रया, अणदरे सागणामु गुणः।”

[चतुर्वेदसंस्कृत भाग २२]

यही बात गोत्रमण्डप में दृग् प्रकार कही गई है।

“विमृष्टादिमावकणा, केचलितोः समुत्पत्तौ अत्रेतीति।”

मित्रा व अनाहारा, मेवा आहारया जीवा ॥

(११ भा ११६)

अर्थात् विप्रलम्भ में पक्षमात्र जीव समुत्पन्न होते हैं। पार्श्वगुणकाययोग के अभाव में अनाहारक है। इससे मित्रादि पदार्थों का सम्भव है।

कम होती है। इसमें ये दो लेश्याएँ मानवें गुणस्थान तक पहुँची जा सकती हैं। शुक्ल लेश्याका स्वरूप इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पहुँची जाती है।

इस प्रकरणका 'बन्धस्वामित्व' नाम, इसलिये रखा गया है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृति-बन्ध-मन्वानिती योग्यता का—बन्धस्वामित्व का—विचार किया गया है।

इस प्रकरण में जैसे मार्गणाओं को लेकर जीवों के बन्धस्वामित्व का सामान्यरूप में विचार किया है, वैसे ही गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप में भी उसका विचार किया गया है, इसलिये इस प्रकरण के जिज्ञासुओं को चाहिये कि वे इसका असांदिग्धरूप से जानने के लिये दूसरे कर्मग्रन्थ का ध्यान पढ़ते संपादन कर लें। क्योंकि दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धस्वामित्व अधिकार में गुणस्थानों को लेकर प्रकृति-बन्ध का विचार किया है जो इस प्रकरण में भी आता है। अतएव इस प्रकरण जगह जगह कह दिया है कि अमुक मार्गणा का बन्धस्वामित्व धन्याधिकार के समान है।

इस गाथा में जैसे लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन, बन्धस्वामित्व में अलग किया है वैसे अन्य मार्गणाओं में गुणस्थानों का कथन, बन्धस्वामित्व के कथन में अलग इस प्रकरण में नहीं किया है। इसका कारण इतना ही है कि अन्य मार्गणाओं में जो ज्ञानने विज्ञाने गुणस्थानों का कथन कर्मग्रन्थ में दिया गया है उनमें कोई मत भेद नहीं है पर लेश्या के बन्धस्वामित्व में ऐसा

परिशिष्ट क.

(१) गोम्पटमार के देखने योग्य स्थल-सोमरे कर्म-
ग्रन्थ का विषय-गुणग्यान का लेकर मार्गणाथों में दण्ड-
मित्र का कथन-गोम्पटमार में है, जो कर्मकांड गा. १०५ में
१२१ तक है। इसके जानने के लिये जिन पानों का इस
पहले आवश्यक है उनका संकेत गा. ६४ में १०४ तक है।

गुणग्यान का लेकर मार्गणाथों में उदय-मार्गनाथ का
विचार, जो प्राचीन या नवीन नामों कर्मग्रन्थ में नहीं है वह
गोम्पटमार में है। इस का पहला कर्मकांड गा. २६० में
३०० तक है। इस के लिये जिन पानों का ज्ञान आवश्यक
है वे गा. २६३ में २८२ तक में संसृष्ट हैं। इस उदय-मार्गनाथ
क. प्रकरण में उदय-मार्गनाथ मित्र का विषय भी संसृष्ट है।

गुणग्यान का लेकर मार्गणाथों में सोमरे कर्म-
ग्रन्थ का विषय-गोम्पटमार में है, जो कर्मग्रन्थ में नहीं है।
दण्डमित्र का कथन गा. ३०३ में ३५९ तक है। इस के लिये
गा. ३०३ में ३५९ तक है।

पहले का पहला कर्मकांड गा. ३०३ में ३५९ तक है।

संप्रदाय में दो पक्ष चले आते हैं। मैथ्यान्निक पक्ष में पहला गुणस्थान (चतुर्थ कर्मप्रत्य गा. १८) को कर्मप्रस्थिक पक्ष पहला दूसरा दो गुणस्थान मानता है (पंचम डा. १-२८)। दिगम्बर संप्रदाय में यही दो पक्ष देखने में आते हैं। सर्वोर्ध्वमिच्छि और जीवकारण में मैथ्यान्निक पक्ष तथा कर्मप्रस्थ में कर्मप्रस्थिक पक्ष है।

(३) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गण में मिश्रक गुणस्थान में १०६ प्रकृतियों का वन्ध जैसा कर्मप्रत्य में है वैसा ही गोम्मटसार में। गा. १४ की टिप्पणी पृ. ३७-३८।

(४) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गण में मन्मन्त्र को ७५ प्रकृतियों का वन्ध न होना चाहिये किन्तु ७० प्रकृतियों का, जैसा टिकाकार का मन्तव्य है। गोम्मटसार को यही मन्तव्य अभिमत है। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४०-४१।

(५) आहारकमिश्रकाययोग में ६३ प्रकृतियों का वन्ध कर्मप्रत्य में माना हुआ है, परन्तु गोम्मटसार में ६२ प्रकृतियों का। गा. १५ की टिप्पणी पृ. ४५।

(६) कृष्ण आदि तीन लहरा वाले मय्यविवर्ध को मैथ्यान्निक दृष्टि में ७६ प्रकृतियों का वन्ध माना जा रहा चाहिये, जो कर्मप्रत्य में ७७ का माना है। गोम्मटसार भी उक्त विषय में कर्मप्रत्य के समान ही ७७ प्रकृतियों का वन्ध मानता है। गा. २१ की टिप्पणी पृ. ६०-६१।

(६) गतित्रय—तेजोवायुः स्यात्वायुः दिगम्बरं दोनो मंत्रदाय
नेत्रः कायिक वायुकायिक जीव, म्यावर नामकमे के उदा
कारण म्यावर माने गये 'हं', तथापि श्रुताम्बर माहित
अपेक्षा विशेष में उनको त्रय भी कहा है—

“तेज वायुः स्यात्वायुः, उदारा य तया तदा ।

इच्छेते तया त्रिविधा, तेसि भेद सुखेह मे ॥”

(उत्तराख्ययन म. ३६ पं. १०१)

“तेजोवायुश्च स्यात्वायुः नामकमोदयेऽप्युत्र रूप त्रयमस्तीति प्रत्य
क्षिधा हि तत् गतिर्ना, लब्धियन्त्रचः तेजोवायुर्गतिन उदारायां
लब्धितोऽपि त्रयत्वांमिति”

(टीका-वादिशेखर शास्त्रिणा)

“ तेजोवायुर्दीप्तिद्वयादयश्च त्रयम् । ” (तन्वार्थ च २-११)
त्रयत्वं च द्विविधं, त्रियाते लब्धियन्त्रच । तत्र क्रिया कर्म चलनं देशान्तर
प्राप्तिरतः । क्रिया प्राप्य तेजो वायुद्वयोश्च त्रयम्, लब्धिस्तु त्रयत्वात्तमोद
यमात् दीप्तिद्वयादिना क्रिया च देशान्तरप्राप्ति लक्षणेति ” । (तन्वा
च. २-१४ भाष्य शंका) ।

दुविधा मलु तपजीवा लब्धितया चैव गदितया चैव

लब्धिय नेडवाक तेणधंइगारे इह नथि ॥ ”

(भावागत त्रिविधं ल १११)

पञ्चार्थ म्यावर म्यावर रात्रय कर्मोदयार्थिकल

दुनागमर्मा तत्र, त्रिवर्क गतित्रयम् ॥ शंका प्रकाश २-२१)

पृ. ३७-३८ पर लिखा है। पंचमग्रह इस विषय में इन्द्र के समान उक्त दो आयुषों का बन्ध मानता है:—

“ वेदेष्विन्द्रो न आहारः ।”

चंद्रो न आहारमीति, नरसिंह इन्द्रमवाहते ।” (४-१२४)

टीका— “ यत्तु निर्योगायुर्मनुष्यायुस्नक्षत्राध्यवसाययोगमिति मूलमायवस्थायां तयोः बन्धमभवत् । ” (श्री मन्वन्तरि)

मूल तथा टीका का मागश इन्का ही है कि आहारक और नरकक और देवायु इन छः प्रकृतियों के मिश्र ११४ प्रकृतियों का बन्ध, औदारिकमिश्रकाययोग में होता है। औदारिकमिश्रकाययोग के समय मन पर्याप्ति पूर्ण न बन जाने के कारण ऐसे अध्यवसाय नहीं होंगे जिन में हि नरकाय तथा देवायु का बन्ध हो सकता है। इसलिये इन दो का बन्ध उक्त योग में मले ही न हो, पर तिर्यचायु और मनुष्यायु का बन्ध उक्त योग में होता है क्योंकि इन दो आयुषों के बन्ध—योग्य अध्यवसाय उक्त योग में पाये जा सकते हैं।

(२) आहारककाययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध गा. १५ वीं में निर्दिष्ट है। इस विषय में पंचमग्रहका का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ४३ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं—

“ नगरश्च नरश्च बज्रश्च आहार उक्तः समु । ” (४-१०)

गा	ग्रा	सं०	दि०
१	अणवशक्त्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियों
२	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	मति आदि तीन अक्षान
३	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि
४	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	यथाख्यातपारिजा
५	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अविस्तृतसम्यग्दृष्टि आदि
६	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	आठ
७	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि
८	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	एक सौ अठारह
९	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	जिन नामकर्म तथा आहारक-विक रहित
१०	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि
११	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि
१२	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि	अणवतुर्धित्यादि

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३	इत्थि	स्त्री	स्त्री येद नामकमे
४	इगमउ	एकशत	एक सौ एक
५	इय	इति	इसा प्रवार
६	इगनघई	एक नयति	एकानवे
१०	इगिदितिग	एकेन्द्रिय-त्रिक	एकेन्द्रिय आदि तीन प्रतीतयो
११	इगिदि	एकेन्द्रिय	एकेन्द्रिय मार्गणा
१६	इयकार	एकादश	ग्यारह
२२	इदम (इमाः)	इमाः	यह

उ

पुनरुक्त	श्रीमन्मन्त्रिक-दिक	श्रीमन्मन्त्रिक-दिक नामकमे
पुनरुक्त	पुनरुक्त	पुनरुक्त नामकमे

क

मा०	मा०	सं०	हि०
३	कुसुम	कुसुम	अमुग विशयोगनि नामरुमे
१०	कल्प-दुग	कल्प-द्विक	दे। देवलोक
११	कैद	केचिन्	कोई
१५	कम्म	कामेण	कामेण वाययोग
१८	केवलदुग	केवल द्विक	केवल-द्विक
२३	कम्मण	कामेण	कामेण वाययोग
२४	कम्मत्थय	कामेनव	कामेनव नामक नररुण

ख

१६	खद्वय	खधिक	खधिक सामयत्य
----	-------	------	--------------

ग

१	गच्छाद	गच्छानि	गति लोभन
---	--------	---------	----------

मा०	ज	सं	दि०
१	जिणपन्द	जिनपन्द्र	जिनेभर
२	जिण	जिन	जिन नामरुग्
५	जुष्ण	युत	सहित
६	जिण-इक्कारस	जिनेकादशरू	जिन व्यादि ग्यारह प्रवृत्तियों
१०	जोइ	उप्यंतिप्	उप्यंतियी देव
११	जल	जल	जलकाय
१२	जति	यान्ति	पाते दे
१३	जिणिकार	जिनेकादशरू	जिन व्यादि ग्यारह प्रवृत्तियों
१४	जिण-पण	जिन-पंचक	जिन व्यादि पौष प्रवृत्तियों
१५	जिण-पण	जिन-पंचक	जिन व्यादि गौतम प्रवृत्तियों
१६	ओमि	ओमि	राखी (म. के. नली)
१८	जणार	जणार	जणार-दीप

गा०	भा०	ज	सं	हि०
१	जिणपन्द	जिनपन्द	जिनेश्वर	जिनेश्वर
२	जिण	जिन	जिन नामकर्म	जिन नामकर्म
५	जुस	युत	सदित	सदित
६	जिण-इवकारस	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१०	जोइ	उयोसिप्	उयोसिपी देव	उयोसिपी देव
११	जल	जल	जलकाय	जलकाय
१२	जनि	यान्ति	पाने हैं	पाने हैं
१३	जिणिसकार	जिनैकादशक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१४	जिण-पणुण	जिन-पंचक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१५	जिण-पणु	जिन-पंचक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों
१६	जिण-पणु	जिन-पंचक	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों	जिन आदि ग्यारह प्रकृतियों

गा०

मा०

नं०

१२०

२

देव

देव

देव विरति

३

देसाद

देसादि

देवविमिति अति गुणगणन

१७

हु

डि

दो

१७

दम

दमन

दम

१८

दुषि

डि

दो

१८

दो

डि

दो

२०

देवमणुआड

देवमनुनायुप्

देव आयु तया मनुन्य आयु

२२

देविदगूरि

देवेन्द्रगूरि

देवेन्द्रगूरि

न

२

नरय

नरक

नरकगति नामकर्म

२

नपु

नपुंसक

नपुंसक वेद मोहनीय

३

नीय

नीष

नीष गोयकर्म

३

नर

नर

मनुन्यगति नामकर्म

४	निरय	निरय	निरय	निरय
४	नपुषउ	नपुसक-पुसक	नपुसक-पुसक	नपुसक-पुसक
४	नराउ	नरापुप्	नरापुप्	नरापुप्
६	नरदुग	नर-दिक	नर-दिक	नर-दिक
६	नपुसपउ	नपुसक-पुसक	नपुसक-पुसक	नपुसक-पुसक
-	नरय-सोल	नरक-सोल	नरक-सोल	नरक-सोल
६	नर	नर	नर	नर
६	नरसउ (य)	नरसज	नरसज	नरसज
	नपरं	नपरं	नपरं	नपरं



ध तिर्यंय व्यायु

ध तिर्यंय व्यायु

गा०	प्रा०	सं०	शि०
१७	पदमा	प्रथम	पहला
१८	परिहार	परिहार	परिहार विमुक्त चारित्र
२२	पग्हा	पग्हा	पद्म लेख्या
		व	
१	यन्ध-विदाण	यन्ध-विधान	बंधका का करना
१	बंधसामित्त	यन्ध-स्वामित्व	बन्धाधिकार
४	बंधर्हि	यज्जन्ति	घोषते हैं
५	बिसर्यारि	द्विसज्जन्ति	यद्दत्तार
८	धीष्य कसाय	द्वितीय कसाय	अप्रत्याख्यानावरण कसाय
१२	धिति	मुषन्ति	कहते हैं
१६	धिष्य	द्वितीय	दूसरा
१७	पारग	पारगन्	पारण
२०	बंधंति	यज्जन्ति	घोषते हैं

१८

मह-युध

मति-भुत

मति श्रीर भवज्ञान

१९

मिषद-तिग

मिष्याधिक

मिष्यादिष्टि आदि तीन गुणस्थान

२३

मिषद-सम

मिष्या-सम

मिष्यादिष्टि गुण स्थान के तुल्य

र

३

रितद

व स-एषभ-नाराय संहनन

५

रयणाइ

रत्नादि

रत्नप्रभा आदि नरक

११

रयण

रत्न

रत्नप्रभा

१६

रदिष्य

रदित

रदित

१७

लोभ

लोभ कषाय मार्गेष्ठा

२४

लिदिग

लिभिग

लितग नृष्या

ले

गा०	प्रा०	सं	ह्रि
१०	वि	अपि च	भी
१०	वण	यन	चाण व्यन्तर
१०	व्य	एव	यथा
११	विगल	विकल	विकलेन्द्रिय
१६	वेदञ्च	वैक्रिय	वैक्रियकाययोग
१६	वेय-तिग	वेद-धिक	तीन वेद
१६	वेयग	वेदक	वेदक सम्यक्त्व
२०	चट्ट	चर्तमान	चर्तमान
स			
१	विरि	श्री	श्री
१	समात	समात	संक्षेप
२	गुर	गुर	वेषगति नामकर्म

१०	सहित	सहित	सहित
११	मनलुमारदि	मनलुमारदि	सनलुमार आदि देव लोक
१२	सूदमनेर	सूदम-त्रयोदशक	सूदम नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियाँ
१४	साय	सान	सात वेदनीय
१५	संजलण विग	संज्वलन-त्रिक	संज्वलन कोष मान माया
१८	सग	सतन्	सात (७)
१८	समरथ	सामायिक	सामायिक चारित्र
१६	सूदम	सूदम	सूदम-संपराय चारित्र
१६	सटाण	स्वस्थान	अपना गुणस्थान
२१	साणार	साखादनादि	सास्वादन आदि गुणस्थान
२१	सथ	संघ	सथ
२२	मुदण	मुबला	मुषल लेखा

परिशिष्ट ग

‘बन्धस्त्रामित्व’ नामक तीसरे कर्पग्रन्थ की मूल गाथाएँ

बन्धविहाणविमुक्तं, बन्धिय मिग्विद्धमाणजिणचन्दं ।

गइयाईमुं बुन्दं, समामथो बन्धमामित्तं ॥ १ ॥

जिणमुर विउवाहारदु-देवाउ य नरयमुहुम विगलतिगं ।

एगिदिथायरायव-नपुमिच्छं हुंउधेवट्टं ॥ २ ॥

अणमग्गागिद संघय-एकुम्भ निवडित्थिदुहुम धाणतिगं ।

उज्जोयतिरिदुमं तिरि-नराउनरउरलदुगरिसदं ॥ ३ ॥

सुरदुगुएवमियज्जं, इगसउ ओहेण वधदि निरया ।

तित्थ विणा मिच्छि मयं, मामणि नपु-चउ विणा छगुरे ॥ ४ ॥

विणु अण-द्धवीस मीमे, रिसयदि समंमि जिणनगाउजुया ।

इय रयणाइमु भगो, पंकाइमु निथयरहीणो । ॥ ५ ॥

अजिणमणुआउ ओहे, मत्तमिण नरदुगुएव विणु मिच्छं ।

इगनवडं मामाणे निरिआउ नपुमचउवज्ज ॥ ६ ॥

अणनदवीमविरदिआ, सनरदुगुएव य मयदि मीगदुगे ।

सनरमउ ओदि मिच्छे, पउर्जातरिया विणु जिणादए (१) ॥ ७ ॥

विणु नरयसोल मामणि, सुरउ अणणत्तनाम (२) मीमे ।

मणुगउ मयारि ममे, धायदुगण रिणा दे० । ॥

मणनाणि सग जयाई, समदयद्वेय चउ दुन्नि परिहारे ।
 केवलदुगि दो चरमा-उजयाइ नय मइमुओहिदुगे ॥ १८ ॥
 अइ उवसमि चउ वेयगि, गइये इकार भिच्छतिगि देमे ।
 मुहुमि सटाणं तेरम, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥
 परमुवममि वट्टता, आउ न वंधंति तेण अजयगुणे ।
 देवमणुआउहीणो, देमाइमु पुण मुगाउ विण्णा ॥ २० ॥
 ओहं अट्टारमयं, आहारदुगूण-माउलेमनिगे ।
 तं नित्थोणं भिच्छे, माणाइमु मत्तवहिं ओहो ॥ २१ ॥
 तेऊ नरयनवूणा, उज्जोयचउतरयवारविणु मुक्का ।
 विणु नरयवार पम्हा, अजिण्णाहारा इमा भिच्छे ॥ २२ ॥
 मत्तवगुण भउव-संनिमु, ओहु अमव्या असंनि भिच्छममा ।
 सामाणि असंनि संनिव्व, कम्मणभंगो अणाहारे ॥ २३ ॥
 तिसु दुसु मुक्काइ गुणा, चउ मग तेरत्ति वन्धमामित्तं ।
 देविंदसूरि लिदियं, नेयं कम्मत्थयं मांड ॥ २४ ॥





मण्डल की कुछ पुस्तकें ।

(श्री थापमारामजी महाराज-रचित)		(साला कछोमलजी एम. ए.-रचित)	
१ नखनिर्णय प्रासाद ३)		१६ उपनिषद् रहस्य ... २)	
२ सम्यक्ज्ञं शण्योद्धार ॥८)		१७ व्याकरण बोध ... २)	
३ जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर॥)		१८ व्याकरण सार ... १)	
श्री जिन विजयजी-रचित		१९ साहित्य संगीत	१)
४ विशिष्टि शिष्येण १)		२० सामाजिक सुधार	२)
५ शत्रुंजय तीर्थोद्धार ॥८)		२१ जैनतत्त्व मीमांसा	१)
६ जैनतत्त्वसार २)॥		२२ सप्तभर्गानव	१)
(पं० प्रजसालजी-अनुवादित)		२३ गीता दर्शन	१)
७ नवतारा १-		(मुनि मासिक कृत)	
८ जीव विचार १)		२४ त्रिनाथदीपिका	१)
९ चतुरांगमोक्ष २)		२५ चरुपभूष (हिन्दी भाषान्तर १॥	
१० पहिला कर्ममन्थ ॥), ११८)		२६ भद्रामर और कल्याण	
११ दूसरा कर्ममन्थ ॥), ११८)		मन्दिर चर्च महित	२)
१२ तीसरा कर्ममन्थ ॥)		२७ मध्याह्न और चरुपभूष	२)
(पं० हजरामजी-रचित)		२८ दिव्य जीवन	१)
१३ स्वामीमानन्द और जैनधर्म॥)		२९ स्वर्गीय जीवन	१)
१४ नरमेध यज्ञ मीमांसा १)		३० कुमार पृथ्वी नारायण	१)
१५ जैनान्तरात्र मीमांसा १)		३१ सद्चार शिक्षा	१-
32 The Chicago Freshmen		१- 12	
33 Some Distinguished Men		१- 8-	
34 The study of Journalism		१- 1-	
35 Lord Krishna's Message		१- 1-	
36 The Message of the Bible		१- 1-	

मण्डल की कुछ पुस्तकें ।

(धो) चाणक्यमित्रो महाकाव्य रचित)		(भा.भा. छत्रोमित्रो एम. ए. नदि)	
१ मन्वन्तिण्य प्रामाद	३)	११ उर्वन्तिण्य मन्वन्ति	... २)
२ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	॥२)	१२ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... २)
३ त्रिनयने विषयक प्रश्नोत्तर(१)		१३ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
श्री त्रिन विषयको-नदि		१४ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
४ विज्ञप्ति विज्ञप्ति	१)	२० मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... ३)
५ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	॥२)	२१ त्रिनयने मन्वन्ति	... १)
६ त्रिनयने मन्वन्ति	॥३)	२२ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १)
(धो) प्रश्नोत्तर-अनुवादित		२३ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... २)
७ मन्वन्तिण्य	... १)	(मुनि मन्वन्ति-मन्वन्ति)	
८ त्रिन विज्ञप्ति	॥३)	२४ त्रिनयने मन्वन्ति	... १)
९ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	॥३)	२५ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
१० पहिली कर्मग्रन्थ (१) १.२)		२६ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
११ दुसरी कर्मग्रन्थ (१), ॥२)		२७ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
१२ त्रिनयने कर्मग्रन्थ	॥३)	२८ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
(धो) छत्रोमित्रो री-मन्वन्ति)		२९ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
१३ स्वामोदयानन्द और त्रिनयने(१)		३० मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
१४ नरमेध यज्ञ मन्वन्ति	॥३)	३१ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
१५ त्रिनयने मन्वन्ति	॥३)	३२ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
32 The Chicago Practitioner		३३ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
33 Some Distinguished Latin		३४ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
34 The study of Journalism		३५ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
35 Lord Krishna's Message		३६ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)
36 The Message of the		३७ मन्वन्तिण्य मन्वन्ति	... १२)

मण्डल की कुछ पुस्तकें ।

(श्री श्रीमारात्मजी महाराज-रचित)		(साला कबोमन्त्री एम. ए. रचित)	
१ मन्वनिर्णय प्रामाद	३)	१६ उपनिषद् रहस्य	... २)।
२ मन्वन्मते गण्योद्धार	॥२॥	१७ व्याकरण शोध	... २)।
३ त्रिन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	॥॥	१८ व्याकरण मार	... १२)
श्री त्रिन विजयजी-रचित		१९ गार्हपत्य मार्ग	... १२)
४ विजयि विवेचि	... १)	२० सामाजिक सुधार	... ३)
५ शत्रुत्व नार्थोद्धार	॥२॥	२१ त्रिनन्त्र मीमांसा	॥॥
६ त्रिनन्त्रमर	... ॥॥	२२ मन्वन्मन्त्र	... ॥॥
(१० प्रवृत्तान्त्रान्त्रानुवादिन		२३ गीता दर्शन	... २)
७ नमन्त्र	... १)	(मुनि माशिक-कन)	
८ जीव विचार	... ३)	२४ त्रिनन्त्रमन्त्र	... ॥॥
९ चान्तरागमन्त्र	... ३)	२५ कल्पसूत्र हिन्दी भाषान्तर	॥॥
१० पहिला कर्मग्रन्थ	॥॥, १.२)	२६ मन्त्रमन्त्र और कल्पसूत्र	... ३)
११ दूसरा कर्मग्रन्थ	॥॥, ॥॥	मन्त्रा अधे महिन	... ३)
१२ तीसरा कर्मग्रन्थ	... ॥॥	२७ मन्त्राधे और कल्पसूत्र	... ३)
(१० कर्मग्रन्थ जी-रचित)		२८ दिव्य जीवन	॥॥
१३ स्वामन्त्रान्त्र और त्रिनधर्म	॥॥	२९ स्वर्गीय जीवन	॥॥
१४ नमन्त्र यज्ञ सामासा	॥॥	३० कुमार एल्ल वरिव	... १२)
१५ त्रिनन्त्रमन्त्र मीमांसा	॥॥	३१ मन्त्र वरिव	... १२)
१२ The Chicago Press-nottor			॥॥—१२—॥॥
१३ Some Distinguished Jam-			॥॥—१२—॥॥
१४ The study of Jam-nam			॥॥—१२—॥॥
१५ Lord Krishna's Me-nam			॥॥—१२—॥॥
१६ The Master's Poet			॥॥—१२—॥॥

मण्डल की कुछ पुस्तकें ।

(श्री घाण्सारामजी महाराज रचिन)		(लाला कन्नोमलजी एम. ए. रचिन)	
१ तन्त्रनिर्णय ग्रामाद	३)	१६ उपनिषद् रहस्य	... २)
२ माधवकृतं गण्योद्धार	॥२)	१७ व्याकरण बोध	... २)
३ जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर	॥)	१८ व्याकरण मार	... १२
श्री जिन विजयजी-रचिन		१९ व्याकरण संगीत	... १२
४ विजयजी विवेचि	... १)	२० सामाजिक सुधार	... २)
५ गणुत्रय तीर्थोद्धार	॥२)	२१ जैनतन्त्र मीमांसा	॥)
६ जैनतन्त्रमार्ग	... २)	२२ मानवभूतत्व	... १)
(प० मज्झिमा-अनुवादिन)		२३ गीता दर्शन	२)
७ मज्झिम	... १)	(मुनि माधव-रम)	
८ जीव विचार	... २)	२४ विचारधर्मविषयक	... ॥)
९ मीनरागनाथ	... २)	२५ कल्याणमूर्ति-हिन्दी भाषान्तर	१२)
१० पद्विद्या-कर्मग्रन्थ	॥ १ २)	२६ महाभारत और कल्याण	...
११ दुधरा-कर्मग्रन्थ	॥ १ २)	मीनराग अर्थ महिन	२)
१२ तीमरा-कर्मग्रन्थ	५)	२७ नन्दयाम्बु शार कल्याणमूर्ति	२)
(प० कर्मनाथ जी-रचिन)		२८ विचार-तत्त्व	॥)
१३ व्यासाद्वयानन्द और जैनधर्म	॥)	२९ स्वर्गादि जीवन	॥ ३)
१४ नन्दयाम्बु यज्ञ म. मीमांसा	॥)	३० कुमार पुस्तकालय	... १२)
१५ जैनविचार-म. मीमांसा	...	३१ कल्याण म. म.	... १)
१६ The ... of
१७
१८
१९

